[2009] 13 (अतिरिक्त) एस.सी.आर. 1209

गंगई विनायगर टेम्पल एवं अन्य

बनाम

मीनाक्षी अम्माल एवं अन्य

(2003 की दीवानी अपील संख्या 4227)

3 सितंबर, 2009

**[मार्कंडेय काटजू एवं अशोक कुमार**

**गांगुली, न्यायमूर्तिगण]**

*दीवानी प्रक्रिया संहिता, 1908 - धारा 11 - प्राङ्न्याय - की प्रयोज्यता - पक्षों के बीच के वादों की एक साथ सुनवाई की गई विवाद्यक विरचित किए गए और वादों का निपटारा किया गया - वाद ए के निर्णय और डिक्री के खिलाफ अपील - अपील पर विचार करते समय, न्यायालय द्वारा वाद बी में दिए गए निष्कर्षों को अपास्त करना जो पक्षों के बीच आपस में बाध्यकारी थे, जबकि वाद बी में दिए गए निष्कर्षों के खिलाफ कोई अपील दायर नहीं की गई थी - प्राङ्न्याय का अवरोध, यदि आकर्षित होता है - अभिनिर्धारित : मतभेद को देखते हुए, मामले को बड़ी पीठ के पास भेज दिया गया।*

**अपीलकर्ता- एक मंदिर के न्यासी थे, जिन्होंने थियेटर बनाने के लिए उत्तरदाताओं- पट्टादार के पक्ष में 15 वर्षों के लिए कुछ संपत्ति पट्टे पर दी थी। मूल पट्टादार की मृत्यु हो गई। पट्टे की अवधि समाप्त होने से पहले, अपीलकर्ताओं ने उक्त संपत्ति प्रतिवादियों को बेच दी। मूल पट्टादार की विधवा ने 1978 की ओ.एस. 5 दायर किया, जो पट्टे की अवधि समाप्त होने तक उनके कब्जे में हस्तक्षेप करने से प्रतिवादियों को रोकने के लिए व्यादेश का वाद था। इसके लंबित रहने के दौरान, न्यासियों ने पट्टादार से किराए के बकाये का दावा करने के लिए 1978**

की ओ.एस. 6 और 7 दायर किया। सभी वादों की एक साथ सुनवाई की गई। विचारण न्यायालय ने 1978 की ओ.एस. संख्या 5 में विवाद्यक संख्या 2 विरचित किया- क्या वाद संपत्ति एस की निजी संपत्ति नहीं है और क्या वादी, मकान मालिक या उसके विक्रेताओं के स्वामित्व पर सवाल उठाने से विबंधित नहीं हैं। 1978 की ओ.एस. 6 और 7 में, विचारण न्यायालय ने विवाद्यक संख्या 3 विरचित किया- क्या वाद संपत्ति अधिनियम द्वारा शासित एक सार्वजनिक मंदिर की है और यदि ऐसा है, तो क्या हिंदू धार्मिक संस्था अधिनियम की धारा 26 के तहत मंजूरी के अभाव में वाद विचारणीय है। विवाद्यक संख्या 3 का निर्णय विवाद्यक संख्या 2 के साथ किया गया था। विचारण न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि वाद संपत्ति अधिनियम द्वारा शासित एक सार्वजनिक मंदिर नहीं है और चूंकि संपत्ति को एस की निजी संपत्ति पाया गया है, इसलिए हिंदू धार्मिक संस्था अधिनियम की धारा 26 के तहत मंजूरी आवश्यक नहीं है; कि इसे प्रतिवादी 7 से 9 को बेचे जाने के कारण, प्रतिवादी 7 से 9 वाद संपत्ति के पूर्ण स्वामी बन गए हैं और ओ.एस. 5/78 में वादी, मकान मालिक या उसके पद-उत्तरधिकारियों के स्वामित्व को चुनौती देने से विबंधित हैं। विचारण न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि पट्टादार पट्टे की अवधि तक संपत्ति पर कब्जा बनाए रखने का हकदार था, क्योंकि प्रतिवादियों ने अपने लिखित कथन में यह बयान दिया था कि पट्टे की अवधि समाप्त होने तक वादी के कब्जे में हस्तक्षेप करने का उनका कोई इरादा नहीं था। 1978 की ओ.एस. 5 और 7 को खारिज कर दिया गया और उनके खिलाफ कोई अपील दायर नहीं की गई। 1978 की ओ.एस. 6 को आंशिक रूप से स्वीकार किया गया। उत्तरदाताओं 1 से 6 ने 1978 की ओ.एस. 6 के निर्णय के खिलाफ एक अपील दायर की। उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश ने अपीलकर्ता की इस दलील को खारिज कर दिया कि विचारण न्यायालय द्वारा उनके पक्ष में दिए गए स्वामित्व के निष्कर्ष को उच्च न्यायालय द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता क्योंकि यह प्राङन्याय के सिद्धांत द्वारा वर्जित था

और न्यायालय 1978 की ओ.एस. 5 के निर्णय से किसी अपील की सुनवाई नहीं कर रहा था। न्यायालय ने यह माना कि मंदिर एक सार्वजनिक मंदिर है और मंदिर की संपत्ति को वैधानिक अधिकारियों से आवश्यक अनुमति प्राप्त किए बिना हस्तांतरित नहीं किया जा सकता है; और विचारण न्यायाधीश द्वारा संपत्ति की निजी प्रकृति और अपीलकर्ता के पक्ष में स्वामित्व पर दिया गया निष्कर्ष पूरी तरह से अप्रासंगिक और अनावश्यक था। एकल न्यायाधीश ने ओ.एस. संख्या 5/1978 और ओ.एस. संख्या 7/1978 में पहुंचे निष्कर्षों को अपास्त कर दिया। अपीलकर्ता ने एक अपील दायर की। उच्च न्यायालय की खंडपीठ ने इसे खारिज कर दिया। अतः वर्तमान अपील।

मामले को बड़ी पीठ के पास भेजते हुए, न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया : न्यायमूर्ति मार्कंडेय काटजू के अनुसार:

1.1. यह दलील कि ओ.एस. संख्या 5/1978 के निर्णय में दिया गया निष्कर्ष प्राङ्न्याय बन गया था क्योंकि उक्त वाद के निर्णय के खिलाफ कोई अपील दायर नहीं की गई थी, स्वीकार नहीं की जा सकती; क्योंकि ओ.एस. संख्या 5/1978 में प्रार्थना केवल यह थी कि प्रतिवादी के मकान मालिक द्वारा वादी/पट्टादार को जबरन बेदखल नहीं किया जाना चाहिए। उक्त वाद में अपने लिखित कथन में, प्रतिवादी-अपीलकर्ताओं ने कहा था कि वे वादी-पट्टादार को जबरन बेदखल नहीं करने जा रहे हैं। एक बार जब प्रतिवादियों द्वारा ओ.एस. संख्या 5/1978 के लिखित कथन में यह बयान दे दिया गया था, तो वाद- ओ.एस. संख्या 5/1978 को सीधे तौर पर खारिज कर दिया जाना चाहिए था। विचारण न्यायालय के लिए ओ.एस. संख्या 5/1978 में स्वामित्व के प्रश्न सहित किसी भी अन्य प्रश्न पर जाना पूरी तरह से अनावश्यक था। [कंडिका 13 और 14] [1219-जी-एच; 1220-ए-डी]

1.2. कोई मामला सीधे और सारतः विवाद्य है या केवल संपाश्विक और आनुषंगिक रूप से विवाद्य है, यह तय करने के परीक्षणों में से एक यह है कि क्या उक्त विवाद्यक का निर्णय करना आवश्यक था। वर्तमान मामले में, एक बार जब प्रतिवादियों ने यह स्वीकार कर लिया था कि वे वादी-उत्तरदाताओं को जबरन बेदखल नहीं करने जा रहे हैं बल्कि केवल कानून के अनुसार कार्रवाई करेंगे, तो वाद को केवल इसी आधार पर सीधे खारिज कर दिया जाना चाहिए था, और विचारण न्यायालय के लिए स्वामित्व के विवाद्यक सहित किसी अन्य विवाद्यक पर जाना आवश्यक नहीं था। विचारण न्यायालय अनावश्यक रूप से स्वामित्व आदि के प्रश्न पर गया, जबकि उसे ओ.एस. संख्या 5/1978 वाले वाद को सीधे खारिज कर देना चाहिए था। [कंडिका 16, 17 और 19] [1220-जी; 1221-ए-बी-ई]

*सज्जादानशीन सैयद (डी.) विधिक प्रतिनिधियों द्वारा) बनाम मूसा दादाभाई उम्मर एवं अन्य* (2000) 3 **एससीसी** 350; *तमिलनाडु वक्फ बोर्ड बनाम लराबशा दरगाह, पनरुति* (2007) 13 एससीसी 416, संदर्भित।

न्यायमूर्ति गांगुली के अनुसार:

1.1. दीवानी प्रक्रिया संहिता के आदेश XIV नियम 1 (1) (ए) (बी) के अनुसार विवाद्यकों का विरचन दो प्रकार का हो सकता है: तथ्य के विवाद्यक और कानून के विवाद्यक। संहिता का आदेश XIV नियम 1(1) यह निर्देश देता है कि विवाद्यक तब उत्पन्न होते हैं जब तथ्य या कानून का कोई सारवान प्रकथन एक पक्ष द्वारा प्रतिपादित और दूसरे पक्ष द्वारा अस्वीकार किया जाता है। इसलिए, विवाद्यक एक विवादित प्रश्न है जिस पर पक्षों के बीच मतभेद होता है और इसे सुनिश्चित करना न्यायालय का कर्तव्य है। इसलिए, विवाद्यक वे विवादित प्रश्न हैं जिन पर पक्ष न्यायालय का निर्णय प्राप्त करने के इच्छुक होते हैं। [कंडिका 35 और 36] [1227-जी-एच; 1228-ए-सी]

*ब्लैक्स लॉ डिक्शनरी* 8 वां संस्करण, 831, संदर्भित।

1.2. वर्तमान मामले में अभिवचनों से ऐसा प्रतीत होता है कि वाद-पत्र में पट्टादारों यानी उत्तरदाता संख्या 1 से 6 द्वारा मंदिर की संपत्ति के संबंध में अपीलकर्ता के स्वामित्व से संबंधित एक विवाद्यक उठाया गया था और परिणामस्वरूप मंदिर की संपत्ति की प्रकृति के बारे में भी एक विवाद उठाया गया है तथा पट्टादार यह दावा कर रहे हैं कि संपत्ति एक सार्वजनिक न्यास है। अपीलकर्ताओं ने अपने लिखित कथन और अतिरिक्त लिखित कथन में उन दलीलों का खंडन किया और विशेष रूप से अपीलकर्ता के स्वामित्व के संबंध में कोई भी विवाद उठाने की पट्टादारों-उत्तरदाता संख्या 1 से 6 की सक्षमता पर सवाल उठाया। इसलिए, संहिता के आदेश XIV नियम 1 के अर्थ के अंतर्गत, न्यायालय द्वारा (ए) अपीलकर्ताओं के स्वामित्व के बारे में और (बी) मंदिर की संपत्ति की प्रकृति और चरित्र के बारे में भी एक विवाद्यक विरचित किया जाना आवश्यक है। एक बार जब ऐसे विवाद्यक विरचित हो जाते हैं, तो उन विवाद्यकों पर अपना निर्णय सुनाना न्यायालय का कर्तव्य है और विचारण न्यायालय ने ऐसा ही किया है तथा जिसके विरुद्ध कोई अपील दायर नहीं की गई है। [कंडिका 37, 38 और 39] [1228-सी-जी]

1.3. यह स्पष्ट है कि जब न्यायालय द्वारा किसी मामले में कोई विवाद्यक विरचित किया जाता है और उसी विवाद्यक पर कोई निष्कर्ष निकाला जाता है, तो उक्त निष्कर्ष, उक्त संहिता की धारा 11 के स्पष्टीकरण III को ध्यान में रखते हुए, वह निष्कर्ष है जो उन्हीं पक्षों के बीच पूर्ववर्ती वाद में सीधे और सारतः विवाद्य रहा है। ऐसे प्रश्न का उत्तर "प्रत्येक मामले के तथ्यों" पर निर्भर करता है। परीक्षण यह पता लगाने के लिए है कि क्या मुख्य प्रश्न पर न्यायनिर्णयन करने के लिए उस विवाद्यक का निर्णय करना "आवश्यक" था और उसका निर्णय किया गया था। [कंडिका 42 और 45] [1229-डी-ई; 1230-बी-सी]

1.4. वाद-पत्र में, उत्तरदाताओं 1 से 6 ने न्यासियों द्वारा अपनी संपत्ति को अलग हस्तांतरित करने के अधिकार को सीधे चुनौती दी, क्योंकि उन्होंने यह तर्क दिया है कि संपत्ति एक सार्वजनिक न्यास है और अधिनियम की धारा 26 के तहत मंजूरी के बिना इसे हस्तांतरित नहीं किया जा सकता है तथा न्यासियों द्वारा प्रतिवादी संख्या 7 से 9 के पक्ष में किया गया हस्तांतरण शून्य है क्योंकि उनके पास कोई स्वामित्व नहीं है। वाद-पत्र में यह स्पष्ट मामला है। इसलिए, जब तक इस पहलू पर और न्यासियों के स्वामित्व पर कोई निर्णय नहीं दिया जाता, तब तक आगे का निर्णय, अर्थात् वाद को खारिज करना, नहीं प्राप्त किया जा सकता। यह पट्टादारों के कब्जे में हस्तक्षेप करने से प्रतिवादी संख्या 7 से 9 को रोकने के आदेश के लिए व्यादेश का वाद हो सकता है, लेकिन फिर भी न्यासियों के स्वामित्व का प्रश्न प्रमुखता से उठाया गया था और उस आशय के अभिवचनों का संदर्भ पहले ही दिया जा चुका है। [कंडिका 46 और 47] [1230-सी-एफ]

1.5. कब्जे से संबंधित व्यादेश के वाद में भी स्वामित्व का प्रश्न उत्पन्न हो सकता है। [कंडिका 48] [1230-एफ]

*सज्जादानशीन सैयद मोहम्मद बी.ई. ईडीआर (डी)विधिक प्रतिनिधियों द्वारा बनाम मूसा दादाभाई उम्मर एवं अन्य* 2000 (3) **एससीसी** 350; *अन्नैमुथु थेवर (मृतक) विधिक प्रतिनिधियों द्वारा बनाम अलगम्माल एवं अन्य* (2005) 6 **एससीसी** 202; *स्वामी आत्मानंद एवं अन्य बनाम श्री रामकृष्ण तपोवनम एवं अन्य* (2005) 10 **एससीसी** 51; *विलियम्स बनाम लॉर्डुसामी एवं एक अन्य* (2008) 5 एससीसी 647, संदर्भित।

1.6. वर्तमान मामले में यह सच हो सकता है कि न्यासियों ने न्यायालय के समक्ष यह रुख अपनाया है कि पट्टे की अवधि के दौरान और कानून के अनुसार कार्रवाई करने के अलावा पट्टादारों के कब्जे में हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि

न्यासियों के स्वामित्व का प्रश्न जो उठाया गया और तय किया गया था, वह ऐसा मामला नहीं है जो सीधे या सारतः विवाद्य है। [कंडिका 49] [1231-बी-सी]

1.7. 1978 की ओ.एस. 5 को खारिज करने का निर्णय देने के लिए, न्यायालय के लिए इस निष्कर्ष पर पहुंचना बहुत महत्वपूर्ण था कि वाद में प्रतिवादी संख्या 7 से 9 ऐसे मकान मालिक थे जिन्होंने मंदिर के न्यासियों से उक्त संपत्ति को वैध रूप से खरीदा था, क्योंकि वाद-पत्र में यह आरोप लगाया गया था कि मंदिर के न्यासियों ने गैरकानूनी रूप से संपत्ति को प्रतिवादी संख्या 7 से 9 को हस्तांतरित कर दिया है। [कंडिका 50] [1231-डी-ई]

1.8. न्यासी-अपीलकर्ताओं मंदिर की संपत्ति को प्रतिवादी संख्या 7 से 9 के पक्ष में वैध रूप से तभी हस्तांतरित कर सकते हैं जब उनके पास संपत्ति का स्वामित्व हो और केवल तभी जब प्रतिवादियों ने संपत्ति का वैध स्वामित्व प्राप्त कर लिया हो, वे पट्टादारों-उत्तरदाताओं को बेदखल करने के कदम उठा सकते हैं। इसलिए, यह प्रश्न कि क्या अपीलकर्ताओं के पास संपत्ति का स्वामित्व था और क्या वे प्रतिवादी संख्या 7 से 9 के पक्ष में संपत्ति का वैध हस्तांतरण कर सकते हैं, वाद को खारिज करने के अंतिम निर्णय से अटूट रूप से जुड़ा हुआ है। [कंडिका 51 और 52] [1231-ई-जी]

*विठ्ठल यशवंत जठार बनाम शिकंदरखान मख्तुमखान सरदेसाई* 1963 (2) एससीआर 285; *बंदोबस्ती आयुक्त (कमिशनर ऑफ एंडोमेंट्स) एवं अन्य बनाम विठ्ठल राव एवं अन्य* (2005) 4 एससीसी 120, संदर्भित।

1.9. अपीलकर्ता के स्वामित्व और न्यास संपत्ति की प्रकृति का प्रश्न सीधे और सारतः विवाद्य है। प्रतिवादी संख्या 1 से 6 ने इन विवाद्यकों पर निष्कर्ष आमंत्रित किया था। ऐसा करने के बाद, वे केवल इसलिए इससे बच नहीं सकते क्योंकि निर्णय में निष्कर्ष उनके खिलाफ गया था और विशेष रूप से तब जब उन्होंने ऐसे निष्कर्ष के खिलाफ कोई अपील दायर नहीं की थी।

**उक्त निष्कर्ष को एक सक्षम न्यायालय द्वारा केवल कानून सम्मत तरीके से ही उलटा जा सकता है। इसलिए संहिता की धारा 11 के तहत प्राङन्याय का अवरोध आकर्षित होता है। [कंडिका 56 और 60] [1232-डी-एफ; 1233-डी]**

*तमिलनाडु वक्फ बोर्ड बनाम लराबशा दरगाह, पनरुति* **(2007) 13 एससीसी 416, अनुपयुक्त माना गया।**

*श्योपरसन सिंह एवं अन्य बनाम रामनंदन प्रसाद नारायण सिंह एवं अन्य* **43 आई.ए. 91;** *दरियाव एवं अन्य बनाम उत्तर प्रदेश राज्य एवं अन्य* **एआईआर 1961 एससी 1457;** *हुक बनाम एडमिनिस्ट्रेटर जनरल ऑफ बंगाल एवं अन्य* **1920-21 (48) आई.ए. 187 – संदर्भित।**

नेल्सन बनाम काउच (1863) 15 सीबी (एनएस) 99, संदर्भित।

पॉल ए. मैकडरमोट द्वारा एंड डबल जेपार्डी पृष्ठ 19; **कॉर्पस ज्यूरिस खंड 34 पृष्ठ 743, संदर्भित।**

**1.10. यह प्रश्न कि एक ही पक्षों के बीच पूर्ववर्ती वाद में सक्षम क्षेत्राधिकार वाले न्यायालय द्वारा निकाला गया निष्कर्ष प्राङन्याय के रूप में कार्य करना चाहिए या नहीं, उन कारणों पर निर्भर नहीं करता है जिन पर उक्त निष्कर्ष आधारित है। यदि निष्कर्ष पर पहुंचने वाले न्यायालय के पास ऐसा करने की क्षेत्राधिकार है, तो अपील के अभाव में, ऐसे निष्कर्ष को केवल इस आधार पर कमजोर नहीं किया जा सकता कि तर्क कमजोर है या निष्कर्ष अनावश्यक है, भले ही यह उस प्रश्न पर था जो पक्षों के बीच सीधे और सारतः विवाद्य था। पक्षों के बीच अभिवचनों के आधार पर न्यायालय द्वारा निकाले गए निष्कर्ष को कुछ पवित्रता प्रदान की जानी चाहिए और यदि ऐसा निष्कर्ष किसी पक्ष के आग्रह पर आमंत्रित किया गया है, तो उस पक्ष को ऐसे निष्कर्ष से बाध्य माना जाना चाहिए जब तक कि पीड़ित पक्ष द्वारा ऐसे निष्कर्ष के खिलाफ अपील न की जाए। [कंडिका 71, 73 और 74] [1236-बी-सी-एफ-एच; 1237-ए]**

*प्रीमियर टायर्स लिमिटेड बनाम केरल स्टेट रोड ट्रांसपोर्ट कॉरपोरेशन* **1993 पूरक (2) एससीसी 146;** *बद्री नारायण सिंह बनाम कामदेव प्रसाद सिंह एवं एक अन्य* **एआईआर 1962 एससी 338 - पर भरोसा किया गया।**

*तारिणी चरण बनाम केदार नाथ* **एआईआर 1928 कलकत्ता 777, संदर्भित।**

**1.11. न तो उच्च न्यायालय की एकल पीठ ने और न ही उसी उच्च न्यायालय की खंडपीठ ने यह मानने में सही दृष्टिकोण अपनाया कि 1978 की ओ.एस. 5 या 1978 की ओ.एस. 7 में आए निष्कर्ष को उक्त निष्कर्ष के खिलाफ किसी अपील के अभाव में संशोधित किया जा सकता है। विचारण न्यायाधीश द्वारा निकाला गया निष्कर्ष कायम है और पक्षों पर बाध्यकारी है। उक्त निष्कर्ष को उस तरीके से कमजोर या कमतर नहीं किया जा सकता जिस तरीके से उच्च न्यायालय द्वारा किया गया है। [कंडिका 78, 79 और 80] (1237-एफ-एच; 1238-सी]**

**वाद संदर्भः**

**न्यायमूर्ति मार्कंडेय काटजू का निर्णय**

| | | |
|---|---|---|
| **(2000) 3 एससीसी 350** | **संदर्भित।** | **कंडिका 16** |
| **(2007) 13 एससीसी 416** | **संदर्भित।** | **कंडिका 17** |

**न्यायमूर्ति अशोक कुमार गांगुली का निर्णय**

| | | |
|---|---|---|
| **2000 (3) एससीसी 350** | **संदर्भित। कंडिका 43, 48, 55, 57** | |
| **(2005) 6 एससीसी 202** | **संदर्भित।** | **कंडिका 48** |
| **(2005) 10 एससीसी 51** | **संदर्भित।** | **कंडिका 48** |
| **(2008) 5 एससीसी 647** | **संदर्भित।** | **कंडिका 48** |
| **1963 (2) एससीआर 285** | **संदर्भित।** | **कंडिका 53** |

| | | |
|---|---|---|
| **(2005) 4 एससीसी 120** | **संदर्भित।** | **कंडिका 54** |
| **(2007) 13 एससीसी 416** | **अनुपयुक्त माना गया।** | **कंडिका 58** |
| **43 आई.ए. 91** | **संदर्भित।** | **कंडिका 61** |
| **(1863) 15 सीबी (एनएस) 99** | **संदर्भित।** | **कंडिका 62** |
| **एआईआर 1961 एससी 1457** | **संदर्भित।** | **कंडिका 68** |
| **1920-21 (48) आई.ए. 187** | **संदर्भित।** | **कंडिका 69** |
| **एआईआर 1928 कलकत्ता 777** | **संदर्भित।** | **कंडिका 71** |
| **1993 पूरक (2) एससीसी 146** | **भरोसा किया गया।** | **कंडिका 75** |
| **एआईआर 1962 एससी 338** | **भरोसा किया गया।** | **कंडिका 76** |

दीवानी अपीलीय क्षेत्राधिकार : 2003 की दीवानी अपील संख्या 4227।

मद्रास उच्च न्यायालय के 1998 की एल.पी.ए. संख्या 17 में दिनांक 6.1.2003 के निर्णय एवं आदेश से।

अपीलकर्ताओं की ओर से जयदीप गुप्ता, संजय आर. हेगड़े, ए. रोहेन सिंह।

उत्तरदाताओं की ओर से एल.एन. राव, जी. मासिलामणि, सुरेंद्रनाथ, संतोष कृष्णन, सेंथिल जगदीशन (वी. रामसुब्रमण्यम के लिए)।

न्यायालय का निर्णय निम्नलिखित द्वारा सुनाया गया:

**न्यायमूर्ति मार्कंडेय काटजू।** 1. विशेष अनुमति द्वारा यह अपील मद्रास उच्च न्यायालय द्वारा एल.पी.ए. संख्या 17, वर्ष 1998 में पारित आक्षेपित निर्णय और आदेश दिनांक 6.1.2003 के खिलाफ है।

2. पक्षों के विद्वान अधिवक्ताओं को सुना गया और रिकॉर्ड का अवलोकन किया गया।

3. अपीलकर्ता श्री गंगई विनायगर मंदिर, तिरुमुडी नगर, पांडिचेरी के न्यासी हैं। उन्होंने भूमि के एक भूखंड के संबंध में कन्हैया चेट्टियार नाम के एक व्यक्ति के पक्ष में 8.11.1967 को एक पट्टा विलेख निष्पादित किया था, जिस पर पट्टादार को एक थिएटर का निर्माण करना था। पट्टा 1.1.1968 से शुरू होने वाली 15 वर्ष की अवधि के लिए था।

4. थिएटर का निर्माण करने के बाद मूल पट्टादार की मृत्यु हो गई और उसकी विधवा ने एक वाद दायर किया जो 1976 की ओ.एस. 125 था, जिसे बाद में वाद संख्या 1978 की ओ.एस. 5 के रूप में पुनरंक्रमांकित किया गया, जिसमें मंदिर को प्रथम उत्तरदाता और न्यास समिति के सदस्यों को उत्तरदाता संख्या 2 से 6 के रूप में पक्षकार बनाया गया। तीन व्यक्ति, जिनके बारे में यह आरोप लगाया गया था कि वे वे लोग थे जिन्हें न्यासियों द्वारा वह स्थल बेचने का प्रयास किया जा रहा था जिस पर थिएटर स्थित था, उन्हें भी प्रतिवादी संख्या 7 से 9 के रूप में पक्षकार बनाया गया था। वाद संख्या 1978 की ओ.एस. 5 में की गई प्रार्थना पट्टे की अवधि की समाप्ति तक वादी के कब्जे में प्रतिवादियों को हस्तक्षेप करने से रोकने के लिए एक व्यादेश के लिए थी।

5. उक्त वाद (1978 की ओ.एस.5) के लंबित रहने के दौरान, न्यासियों ने पट्टादार से किराए के बकाये का दावा करते हुए दो वाद दायर किए, जिन्हें 1978 की ओ.एस. 6 और 1978 की ओ.एस. 7 के रूप में अंकित किया गया। इन तीनों वादों की एक साथ सुनवाई की गई और एक संयुक्त निर्णय सुनाया गया। विचारण न्यायालय ने माना कि पट्टादार पट्टे की अवधि तक संपत्ति पर कब्जा बनाए रखने का हकदार था। यह निष्कर्ष प्रतिवादियों द्वारा अपने लिखित कथन में दिए गए इस बयान को ध्यान में रखते हुए दिया गया था कि पट्टे की समाप्ति तक वादी के कब्जे में हस्तक्षेप करने का उनका कोई इरादा नहीं था। तदनुसार, वाद संख्या 1978 की ओ.एस.5 को खारिज कर दिया गया।

6. न्यासियों ने 1978 की ओ.एस. संख्या 5 में दायर अपने अतिरिक्त लिखित कथन में यह दलील दी थी कि यह संपत्ति मंदिर और न्यासियों की निजी संपत्ति थी। इस दलील का संज्ञान लेते हुए विचारण न्यायालय ने 1978 की ओ.एस. संख्या 5 में विवाद्यक संख्या 2 इस प्रकार विरचित किया:

> क्या वाद संपत्ति सेथुरमन चेट्टियार की निजी संपत्ति नहीं है और क्या वादी, मकान मालिक या उसके विक्रेताओं के स्वामित्व पर सवाल उठाने से विबंधित नहीं हैं?

7. पट्टादार या वादी ने किसी भी समय न्यास के स्वामित्व पर सवाल नहीं उठाया।

8. 1978 की ओ.एस. 6 और 1978 की ओ.एस. 7 में, विचारण न्यायालय ने विवाद्यक संख्या 3 विरचित किया, जिसका निर्णय 1978 की ओ.एस. संख्या 5 में विवाद्यक संख्या 2 के साथ किया गया था। विवाद्यक संख्या 2 का निर्णय करते समय, विचारण न्यायालय इस प्रश्न पर गया कि क्या मंदिर एक सार्वजनिक मंदिर था या एक निजी मंदिर, और क्या प्रतिवादी संख्या 7 से 9 को संपत्ति की बिक्री प्रभावी करने के लिए वैधानिक अधिकारियों से अनुमति की आवश्यकता थी। वाद 1978 की ओ.एस. 6 को आंशिक रूप से डिक्री किया गया जबकि 1978 की ओ.एस. 6 को खारिज कर दिया गया।

9. पट्टादार ने 1978 की ओ.एस. 6 की डिक्री के खिलाफ अपील दायर की। 1978 की ओ.एस. संख्या 5 के निर्णय के खिलाफ कोई अपील दायर नहीं की गई। पट्टादाता ने भी अपने वाद, 1978 की ओ.एस. 7 के खारिज होने के खिलाफ कोई अपील दायर नहीं की।

10. उच्च न्यायालय के विद्वान एकल न्यायाधीश, जिन्होंने 1978 की ओ.एस. 6 के निर्णय के खिलाफ अपील की सुनवाई की, उन्होंने मंदिर और उसके न्यासियों के विद्वान अधिवक्ता द्वारा उठाई गई इस आपत्ति को खारिज कर दिया कि अपील प्राङ्न्याय के सिद्धांत द्वारा वर्जित थी। वह आपत्ति इस आधार पर थी कि ओ.एस. संख्या 5 ऑफ 1978 में विवाद्यक संख्या

2 पर दर्ज किया गया निष्कर्ष अंतिम हो चुका था क्योंकि 1978 की ओ.एस. संख्या 5 के निर्णय के खिलाफ कोई अपील दायर नहीं की गई थी।

11. विद्वान एकल न्यायाधीश ने यह भी माना कि मंदिर एक सार्वजनिक मंदिर है और मंदिर की संपत्ति को वैधानिक अधिकारियों से आवश्यक अनुमति प्राप्त किए बिना हस्तांतरित नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार, विद्वान एकल न्यायाधीश ने 1978 की ओ.एस. संख्या 6 में विवाद्यक संख्या 3 पर विचारण न्यायालय के निर्णय को उलट दिया।

12. इसके बाद अपीलकर्ता ने विद्वान एकल न्यायाधीश के निर्णय और आदेश के खिलाफ उच्च न्यायालय की विद्वान खंडपीठ के समक्ष एक अपील दायर की, जिसे भी खारिज कर दिया गया। अतः, हमारे समक्ष विशेष अनुमति के माध्यम से यह अपील है।

13. हमने पक्षों के विद्वान अधिवक्ताओं को विस्तार से सुना है। अपीलकर्ता की ओर से पेश वरिष्ठ अधिवक्ता श्री जयदीप गुप्ता ने तर्क दिया कि 1978 की ओ.एस. संख्या 5 के निर्णय में दिया गया निष्कर्ष प्राङ्न्याय बन गया था क्योंकि उपरोक्त वाद के निर्णय के खिलाफ कोई अपील दायर नहीं की गई थी। दूसरी ओर, वरिष्ठ अधिवक्ता श्री एल. नागेश्वर राव, जिन्हें वरिष्ठ अधिवक्ता श्री जी. मासिलामणि द्वारा सहयोग दिया गया, ने तर्क दिया कि 1978 की ओ.एस. संख्या 5 में दिया गया निष्कर्ष प्राङ्न्याय नहीं बना था।

14. मैं अपीलकर्ता के विद्वान अधिवक्ता के तर्क से सहमत होने के पक्ष में नहीं हूँ, जिसका सीधा कारण यह है कि 1978 की ओ.एस. संख्या 5 में प्रार्थना केवल यह थी कि वादी/पट्टादार को प्रतिवादियों के मकान मालिक द्वारा जबरन बेदखल नहीं किया जाना चाहिए। उपरोक्त वाद में अपने लिखित कथन में, प्रतिवादियों (हमारे समक्ष अपीलकर्ता) ने कहा था कि वे वादी-पट्टादार को जबरन बेदखल नहीं करने जा रहे हैं। एक बार जब प्रतिवादियों द्वारा 1978 की ओ.एस. संख्या 5 में लिखित कथन में यह बयान दे दिया गया था, तो उपरोक्त वाद (1978 की ओ.एस.

संख्या 5) को सीधे खारिज कर दिया जाना चाहिए था, क्योंकि प्रतिवादियों ने कहा था कि वे वादी को जबरन बेदखल/कब्जा-मुक्त नहीं करने जा रहे हैं। विचारण न्यायालय के लिए 1978 की ओ.एस. संख्या 5 में स्वामित्व के प्रश्न सहित किसी भी अन्य प्रश्न पर जाना पूरी तरह से अनावश्यक था।

15. इस संबंध में हम दीवानी प्रक्रिया संहिता की धारा 11 का उल्लेख कर सकते हैं जो यह कहती है:

> "कोई भी न्यायालय किसी ऐसे वाद या विवाद्यक का विचारण नहीं करेगा जिसमें प्रत्यक्षतः और सारतः विवाद्य विषय उसी न्यायालय में, उन्हीं पक्षों के बीच या ऐसे पक्षों के बीच जिनके माध्यम से वे या उनमें से कोई दावा करते हैं, उसी स्वत्व के तहत मुकदमा लड़ते हुए, किसी ऐसे पूर्ववर्ती वाद में प्रत्यक्षतः और सारतः विवाद्य रहा हो, जो ऐसे आगामी वाद या उस वाद का विचारण करने के लिए सक्षम हो जिसमें ऐसा विवाद्यक बाद में उठाया गया है, और ऐसे न्यायालय द्वारा सुना जा चुका हो तथा अंतिम रूप से तय किया जा चुका हो।"

16. कभी-कभी यह प्रश्न उठता है कि वाक्यांश "प्रत्यक्षतः और सारतः विवाद्य विषय" का क्या अर्थ है। कोई मामला प्रत्यक्षतः और सारतः विवाद्य है या केवल संपाश्विक और आनुषंगिक रूप से विवाद्य है, यह तय करने के परीक्षणों में से एक—जैसा कि इस न्यायालय द्वारा *सज्जादानशीन सैयद (डी.) विधिक प्रतिनिधियों द्वारा बनाम मूसा दादाभाई उम्मर एवं अन्य* (2000) 3 एससीसी 350 (देखें कंडिका 18) के निर्णय में निर्धारित किया गया है—यह है कि क्या उक्त विवाद्यक का निर्णय करना आवश्यक था।

17. वर्तमान मामले में, यह स्पष्ट है कि एक बार जब प्रतिवादियों ने यह स्वीकार कर लिया था कि वे वादी-उत्तरदाताओं को जबरन बेदखल नहीं करने जा रहे हैं, तो वाद को केवल

इसी आधार पर सीधे खारिज कर दिया जाना चाहिए था, और विचारण न्यायालय के लिए स्वामित्व के विवाद्यक सहित किसी अन्य विवाद्यक पर जाना आवश्यक नहीं था।

18. *तमिलनाडु वक्फ बोर्ड बनाम लराबशा दरगाह, पनरुति* (2007) 13 एससीसी 416 में तथ्य यह थे कि वादियों ने दावा किया था कि वाद संपत्ति उनकी निजी संपत्ति थी और वक्फ संपत्ति नहीं थी। उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय में यह निष्कर्ष दिया कि वाद संपत्ति वक्फ संपत्ति थी और निजी न्यास की संपत्ति नहीं थी। इस न्यायालय ने माना कि उच्च न्यायालय के पास इस बात पर विचार करने का कोई अवसर नहीं था कि संपत्ति निजी वक्फ थी या सार्वजनिक वक्फ। इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि यह घोषणा करने के लिए आगामी वाद कि संपत्ति वक्फ-अलल-औलाद की है, प्राङ्न्याय के सिद्धांत द्वारा वर्जित नहीं है।

19. मेरी राय में, विचारण न्यायालय अनावश्यक रूप से स्वामित्व आदि के प्रश्न पर गया, जबकि उसे 1978 की ओ.एस. संख्या 5 वाले वाद को इस तथ्य को देखते हुए सीधे खारिज कर देना चाहिए था कि प्रतिवादियों ने अपने लिखित कथन में यह कहा था कि वे वादी को जबरन बेदखल नहीं करने जा रहे हैं, बल्कि केवल कानून के अनुसार कार्रवाई करेंगे।

20. पूर्वगामी कारणों से मुझे इस अपील में कोई सार नहीं दिखता और तदनुसार इसे खारिज किया जाता है। कोई खर्च नहीं।

**न्यायमूर्ति गांगुली।** 1. मैंने इस अपील में अपने विद्वान भाई, न्यायमूर्ति मार्कंडेय काटजू द्वारा तैयार किया गया प्रारूप निर्णय पढ़ लिया है, जो मुझे 14.8.2009 को भेजा गया था। दुर्भाग्य से, मैं अपील को खारिज करने वाले उनके माननीय न्यायाधीश के प्रारूप निर्णय से सहमत नहीं हो सकता।

2. मेरा यह विचार है कि अपील को स्वीकार किया जाना चाहिए और उक्त विचार के कारण नीचे दिए गए हैं।

3. यह अपील मंदिर की ओर से न्यास समिति द्वारा और साथ ही न्यासियों में से एक द्वारा मद्रास उच्च न्यायालय के दिनांक 6.1.2003 के निर्णय और आदेश को चुनौती देते हुए दायर की गई है, जिसके द्वारा उच्च न्यायालय ने वर्तमान अपीलकर्ताओं द्वारा दायर अपील को अन्य बातों के साथ-साथ यह मानते हुए खारिज कर दिया था कि अपील में कोई सार नहीं है।

4. अपील में शामिल प्रश्न इस मामले के प्रासंगिक तथ्यों की चर्चा से प्रकट होगा।

5. विवादित संपत्ति अपीलकर्ताओं की थी और इसे उत्तरदाता संख्या 1 से 6 को 8.11.1967 से प्रभावी 15 वर्ष की अवधि के लिए पट्टे पर दिया गया था जो कि 1983 में समाप्त हो गया।

6. 1.7.1976 को या उससे पहले, विवादित संपत्ति अपीलकर्ताओं द्वारा प्रतिवादी संख्या 7, 8 और 9 को बेच दी गई थी और उस आशय का एक नोटिस 14.10.1976 को पट्टादारों को दिया गया था, जिसमें उनसे 1 जुलाई, 1976 तक के किराए के बकाये का भुगतान अपीलकर्ताओं को करने के लिए कहा गया था।

7. इसके बाद, पट्टादारों यानी उत्तरदाता संख्या 1 से 6 ने एक वाद दायर किया, जिसे अंततः 1978 की ओ.एस. संख्या 5 के रूप में संख्यांकित दिया गया, जिसमें अन्य बातों के साथ-साथ यह आरोप लगाया गया कि अपीलकर्ताओं ने गैरकानूनी रूप से संपत्ति को प्रतिवादी संख्या 7 से 9 को हस्तांतरित कर दिया है, जो उत्तरदाताओं के कब्जे में हस्तक्षेप करने का प्रयास कर रहे थे, और इस प्रकार ऐसे हस्तक्षेप के खिलाफ एक व्यादेश की मांग की गई थी।

8. अपीलकर्ताओं ने दो वाद भी दायर किए, अर्थात् 1978 की ओ.एस. 6 और ओ.एस. 7 , जिसमें उत्तरदाता संख्या 1 से 6 से संपत्ति के प्रतिवादी संख्या 7 से 9 को हस्तांतरण की तिथि यानी 1.7.1976 तक के बकाये किराए का दावा किया गया था।

9. सभी वादों की एक साथ सुनवाई की गई।

10. इन तीन वादों में से,  उत्तरदाता संख्या 1 से 6 द्वारा दायर 1978 की ओ.एस. 5 को खारिज कर दिया गया और उसके खिलाफ कोई अपील दायर नहीं की गई। 1978 की ओ.एस.5 को भी खारिज कर दिया गया, उससे भी कोई अपील दायर नहीं की गई।

11. 1978 की ओ.एस. 6 को आंशिक रूप से स्वीकार किया गया था और केवल 1978 की ओ.एस. 6 के निर्णय और डिक्री के खिलाफ ही उत्तरदाता 1 से 6 द्वारा एक अपील दायर की गई थी।

12. इन तथ्यों पर कोई विवाद नहीं है।

13. इस मामले में विचार के लिए जो प्रश्न उठते हैं, वे यह हैं कि क्या न्यायालय वाद ए के निर्णय और डिक्री के खिलाफ अपील पर विचार करते समय वाद बी में दिए गए निष्कर्ष को उलट सकता है, विशेष रूप से तब, जब वाद बी में दिए गए निष्कर्षों के खिलाफ कोई अपील दायर नहीं की गई थी?

14. उपरोक्त विवाद्यक के एक आवश्यक परिणाम के रूप में यह प्रश्न है कि क्या वाद बी में पहुंचे निष्कर्ष, जो पक्षों के बीच आपस में बाध्यकारी हैं, प्राङन्याय के अवरोध को देखते हुए वाद ए की अपील में संशोधित किए जा सकते हैं।

15. इन दो प्रश्नों से उत्पन्न होने वाला एक तीसरा सामान्य महत्व का प्रश्न प्राङन्याय के सिद्धांत के महत्व के बारे में है, जो न्याय के प्रशासन में लोक नीति के उच्च सिद्धांत पर आधारित है। क्या ऐसे सिद्धांतों की न्यायालयों द्वारा अन्य बातों के साथ-साथ इस आधार पर उपेक्षा की जा सकती है कि किसी अन्य वाद में सक्षम अधिकारिता वाले न्यायालय द्वारा निकाला गया निष्कर्ष अनावश्यक था, और क्या इस न्यायालय को अनुच्छेद 136 के तहत अपनी विवेकाधीन अधिकारिता का प्रयोग करते हुए प्राङन्याय के सिद्धांत को कमजोर होने को रोकने के लिए हस्तक्षेप करना चाहिए।

16. इन प्रश्नों का उत्तर देने से पहले, मैं प्रासंगिक अभिवचनों, विरचित किए गए विवाद्यकों और संबंधित वादों में आए निष्कर्षों की जांच करना चाहूंगा।

17. 1978 की ओ.एस. 5

इस वाद में वाद-पत्र उत्तरदाता संख्या 1 से 6 द्वारा दायर किया गया है, जिसमें अपीलकर्ताओं द्वारा प्रतिवादी संख्या 7 से 9 के पक्ष में की गई संपत्ति की बिक्री को चुनौती दी गई है और इसे चुनौती देते हुए निम्नलिखित कथन किए गए हैं:

".....उन्हें (यहाँ अपीलकर्ताओं को) संपत्ति बेचने का कोई अधिकार नहीं है क्योंकि यह पहले प्रतिवादी की न्यास संपत्ति है और ऐसा हस्तांतरण न्यास भंग होने के कारण पूरी तरह से शून्य होगा.. ... "

18. वाद-पत्र की कंडिका 5 में आगे इस प्रकार कहा गया है:

" ... प्रतिवादी 7 से 9 के पक्ष में किया गया हस्तांतरण शून्य होने के कारण, संपत्ति पर उनका कोई स्वामित्व नहीं है ... "

(जोर दिया गया है)

19. वाद-पत्र का विरोध करते हुए, वर्तमान अपीलकर्ताओं द्वारा दायर किए गए लिखित कथन में यह कहा गया था कि वाद प्रकृति में अत्यधिक काल्पनिक है। यह भी दावा किया गया था कि वर्तमान अपीलकर्ताओं द्वारा प्रतिवादी संख्या 7 से 9 के पक्ष में की गई बिक्री कानूनन वैध है और यह स्पष्ट किया गया था कि उक्त वाद के वादी (यहाँ उत्तरदाता संख्या 1 से 6) को मकान मालिक द्वारा स्वामित्व के हस्तांतरण को चुनौती देने का कोई अधिकार नहीं है क्योंकि उन्होंने प्रतिवादियों (यहाँ अपीलकर्ताओं) के स्वामित्व को स्वीकार किया था।

20. यहाँ के अपीलकर्ताओं द्वारा उस वाद में एक अतिरिक्त लिखित कथन दायर किया गया था, जिसकी कंडिका (1) में निम्नलिखित कथन किए गए थे:

"(1) ये प्रतिवादी निवेदन करते हैं कि वादी या तो वाद अनुसूची में उल्लिखित संपत्ति के संबंध में इन प्रतिवादियों के स्वामित्व पर सवाल उठाने से, या प्रतिवादी 7 से 9 के पक्ष में वाद अनुसूची में उल्लिखित संपत्ति के हस्तांतरण के संबंध में सवाल उठाने से विबंधित है।"

(जोर दिया गया है)

21. प्रतिवादी संख्या 7 से 9 द्वारा उक्त वाद में दायर किए गए लिखित कथन में यह कहा गया था कि वादियों (प्रतिवादी 1 से 6) के पास वाद दायर करने का कोई वाद-हेतुक नहीं है और यह भी दावा किया गया कि प्रतिवादी संख्या 7 से 9 के पक्ष में किया गया हस्तांतरण कानूनी और वैध है।

22. पक्षों के बीच उन अभिवचनों के आधार पर कई वाद-विषय तय किए गए। हमारे विचार के लिए प्रासंगिक वाद-विषय, जो 1978 की ओ.एस. 5 में तय किया गया था, इस प्रकार है:

"क्या वाद संपत्ति सेथुरामा चेट्टियार की निजी संपत्ति नहीं है और क्या वादीगण मकान मालिक या उनके विक्रेताओं के स्वामित्व पर सवाल उठाने से विवर्जित नहीं हैं?"

**1978 की ओ.एस. 6**

23. 1978 की ओ.एस. 6 में प्रासंगिक वाद-विषय संख्या 3 इस प्रकार है:

"क्या वाद संपत्ति अधिनियम द्वारा शासित एक सार्वजनिक मंदिर की है? यदि ऐसा है, तो क्या हिंदू धार्मिक संस्थान अधिनियम की धारा 26 के तहत मंजूरी के अभाव में वाद विचारणीय है।"

**1978 की ओ.एस. 7**

24. इसी तरह, 1978 की ओ.एस. 7 में वाद-विषय संख्या 3 इस प्रकार है:

"क्या वाद संपत्ति अधिनियम द्वारा शासित एक सार्वजनिक मंदिर की है? यदि ऐसा है, तो क्या हिंदू धार्मिक संस्थान अधिनियम की धारा 26 के तहत मंजूरी के अभाव में वाद विचारणीय है।"

25. जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, सभी वादों की सुनवाई एक साथ की गई थी और इन सभी वाद-विषयों पर विचार करने के बाद, विद्वान विचारण न्यायालय निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचा:

"इसलिए वाद संपत्ति अधिनियम द्वारा शासित एक सार्वजनिक मंदिर नहीं है और चूंकि संपत्ति सेथुरामा चेट्टियार की निजी संपत्ति पाई गई है, इसलिए हिंदू धार्मिक संस्थान अधिनियम की धारा 26 के तहत मंजूरी आवश्यक नहीं है। वाद संपत्ति सेथुरामा चेट्टियार की व्यक्तिगत संपत्ति होने और इसे प्रतिवादी संख्या 7 से 9 को बेचे जाने के कारण, उत्तरवर्ती वाद संपत्ति के पूर्ण स्वामी बन गए हैं और ओ.एस. 5/78 के वादीगण वर्तमान मकान मालिक के स्वामित्व को चुनौती देने से विवर्जित हैं और वे किरायेदारी को स्वीकार करने के लिए बाध्य हैं। उन्हें मकान मालिक या उनके हक-उत्तराधिकारियों के स्वामित्व पर सवाल उठाने का कोई अधिकार नहीं है।"

(जोर दिया गया)

26. निर्णय के मुख्य कार्यकारी भाग में उपरोक्त निष्कर्षों पर पहुँचने के बाद, विचारण न्यायालय ने दिनांक 6.11.1982 के अपने आदेश द्वारा इस प्रकार निर्णय दिया:

"परिणामस्वरूप, ओ.एस. 5/78 को लागत सहित खारिज किया जाता है। ओ.एस. 6/78 को उपरोक्त गणना के अनुसार लागत सहित आंशिक रूप से डिक्री किया जाता है। ओ.एस. 7/78 के संबंध में, चूंकि न्यायालय ने यह माना है कि पूरी संपत्ति एक

ही है, इसलिए पिछले हिस्से के लिए कोई पट्टा राशि नहीं हो सकती है और इसे लागत सहित खारिज किया जाता है।"

27. उक्त निर्णय और डिक्री के खिलाफ, पट्टाधारकों यानी यहाँ प्रतिवादी संख्या 1 से 6 द्वारा केवल ओ.एस. संख्या 6/78 में द्वितीय अतिरिक्त जिला न्यायालय, पांडिचेरी के दिनांक 6.11.1982 के डिक्री के खिलाफ एक अपील दायर की गई थी। यह पेपर बुक के पृष्ठ 84 से स्पष्ट है।

28. मद्रास उच्च न्यायालय के विद्वान एकल न्यायाधीश के समक्ष उक्त अपील में, वर्तमान अपीलकर्ता पक्षकार थे और उन्होंने विशेष रूप से यह सवाल उठाया था कि विचारण न्यायालय द्वारा वर्तमान अपीलकर्ताओं के पक्ष में दिए गए स्वामित्व के निष्कर्ष को उच्च न्यायालय द्वारा बदला नहीं जा सकता, क्योंकि वह 1978 की ओ.एस. 5 के निर्णय के खिलाफ किसी अपील की सुनवाई नहीं कर रहा था।

29. उस आपत्ति को नजरअंदाज करते हुए, उच्च न्यायालय के विद्वान एकल न्यायाधीश ने माना कि विद्वान विचारण न्यायाधीश के लिए यह वाद-विषय तय करने का कोई अवसर या आवश्यकता नहीं थी, अर्थात्, "क्या वाद संपत्ति सेथुरामा चेट्टियार की निजी संपत्ति नहीं है और क्या वादीगण मकान मालिक या उनके विक्रेताओं के स्वामित्व पर सवाल उठाने से विवर्जित नहीं हैं..." उच्च न्यायालय के विद्वान एकल न्यायाधीश ने माना कि विद्वान विचारण न्यायाधीश द्वारा संपत्ति की निजी प्रकृति और अपीलकर्ता के पक्ष में स्वामित्व पर दिया गया निष्कर्ष पूरी तरह से अप्रासंगिक और अनावश्यक था। एक काफी लंबे निर्णय की अंतिम कंडिका में, विद्वान एकल न्यायाधीश ने इस प्रकार निर्णय दिया:

"परिणामस्वरूप, अपील सफल होती है और आंशिक रूप से इस सीमा तक स्वीकार की जाती है कि 1978 की ओ.एस. संख्या 5 में वाद-विषय संख्या 2 के तहत और

1978 की ओ.एस. संख्या 6 और 7 में वाद-विषय संख्या 3 और 4 के तहत विद्वान विचारण न्यायाधीश द्वारा दिए गए निष्कर्षों को एतद्द्वारा अपास्त किया जाता है और 1978 की ओ.एस. संख्या 6 में दावा की गई और आंशिक रूप से डिक्री की गई राहत के संबंध में अपील विफल होती है और तदनुसार इसे आंशिक रूप से खारिज किया जाता है। पक्षकार अपनी-अपनी लागत स्वयं वहन करेंगे।"

30. इस प्रकार यह प्रतीत होगा कि भले ही अपील केवल ओ.एस. संख्या6 ऑफ 1978 में विचारण न्यायालय के निर्णय और डिक्री के खिलाफ थी, फिर भी अपील में विद्वान एकल न्यायाधीश ने 1978 की ओ.एस. संख्या 5 और 1978 की ओ.एस. संख्या 7 में दिए गए निष्कर्षों को अपास्त कर दिया।

31. एकल न्यायाधीश के निर्णय के खिलाफ, वर्तमान अपीलकर्ताओं द्वारा उच्च न्यायालय की खंडपीठ के समक्ष एक अपील दायर की गई थी।

32. उच्च न्यायालय की खंडपीठ भी इस निष्कर्ष पर पहुँची कि 1978 की ओ.एस. संख्या 5 में वाद-विषय संख्या 2 पूरी तरह से अनावश्यक था और यह उन दलीलों को प्रतिबिंबित नहीं करता है जो पक्षों द्वारा ली गई थीं, और उस वाद-विषय पर निष्कर्षों को वाद में अंतिम निर्णय का तात्कालिक आधार नहीं माना जा सकता है और इसलिए प्रांग न्याय का नियम लागू नहीं होगा।

33. माननीय न्यायमूर्ति काटजू ने अपने द्वारा तैयार किए गए निर्णय में उच्च न्यायालय के उक्त दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया है और अपील को खारिज कर दिया है। दुर्भाग्य से, मैं महामहिम से सहमत नहीं हो सकता।

34. इस मामले में विचार के लिए कई प्रश्न सामने आते हैं।

35. पहला प्रश्न वाद-विषयों को तय करने का है। दीवानी प्रक्रिया संहिता (संक्षेप में "संहिता") के आदेश XIV (14) नियम 1 (1) (ए) (बी) के अनुसार वाद-विषय दो प्रकार के हो सकते हैं; तथ्य के वाद-विषय और कानून के वाद-विषय।

36. संहिता का आदेश XIV नियम 1(1) यह निर्देश देता है कि वाद-विषय तब उत्पन्न होते हैं जब तथ्य या कानून की किसी महत्वपूर्ण प्रस्थापना को एक पक्ष द्वारा स्वीकार किया जाता है और दूसरे पक्ष द्वारा अस्वीकार किया जाता है। इसलिए, वाद-विषय एक विवादित प्रश्न है जिस पर पक्षों के बीच मतभेद होता है और संहिता के आदेश XIV, नियम 1(5) के अनुसार इसे सुनिश्चित करना न्यायालय का कर्तव्य है। इसलिए, वाद-विषय वे विवादित प्रश्न होते हैं जिन पर पक्षकार न्यायालय का निर्णय प्राप्त करने के इच्छुक होते हैं (ब्लैक्स लॉ डिक्शनरी, 8 वां संस्करण, 831)।

37. वर्तमान मामले में ऊपर चर्चा किए गए अभिवचनों से ऐसा प्रतीत होता है कि वाद-पत्र में मंदिर की संपत्ति के संबंध में वर्तमान अपीलकर्ता के स्वामित्व से संबंधित एक मुद्दा पट्टाधारकों यानी यहाँ प्रतिवादी संख्या 1 से 6 द्वारा उठाया गया था और परिणामस्वरूप मंदिर की संपत्ति के चरित्र के बारे में भी विवाद उठाया गया है, और पट्टाधारक दावा कर रहे हैं कि यह संपत्ति एक सार्वजनिक न्यास है।

38. यहाँ अपीलकर्ताओं ने अपने लिखित कथन और अतिरिक्त लिखित कथन में उन तर्कों का खंडन किया और विशेष रूप से वर्तमान अपीलकर्ता के स्वामित्व के संबंध में कोई भी विवाद उठाने की पट्टाधारकों (प्रतिवादी संख्या 1 से 6) की सक्षमता पर सवाल उठाया।

39. इसलिए, संहिता के आदेश XIV नियम 1 के अर्थ के भीतर, न्यायालय द्वारा (ए) वर्तमान अपीलकर्ताओं के स्वामित्व के बारे में और (बी) मंदिर की संपत्ति की प्रकृति और चरित्र के बारे में भी वाद-विषय तय किया जाना आवश्यक है। एक बार जब ऐसे वाद-विषय तय हो

जाते हैं, तो उन वाद-विषयों पर अपना निर्णय सुनाना न्यायालय का कर्तव्य होता है, और विचारण न्यायालय ने ऐसा ही किया है, जिसके खिलाफ कोई अपील दायर नहीं की गई है।

40. उच्च न्यायालय द्वारा यह माना गया है और प्रतिवादी संख्या 1 से 6 की ओर से हमारे समक्ष यह तर्क भी दिया गया है कि प्राङ्न्याय का नियम लागू नहीं होगा क्योंकि उपरोक्त दो प्रश्न 1978 की ओ.एस. 5 में 'प्रत्यक्षतः और सारतः विवादग्रस्त' नहीं थे। अब, 'प्रत्यक्षतः और सारतः विवादग्रस्त' क्या है, इसे संहिता की धारा 11 में परिभाषित नहीं किया गया है, लेकिन स्पष्टीकरण III में इसे इस प्रकार समझाया गया है:

> "स्पष्टीकरण III- ऊपर संदर्भित मामला पूर्ववर्ती वाद में एक पक्ष द्वारा आरोपित और दूसरे पक्ष द्वारा स्पष्ट या निहित रूप से, या तो अस्वीकार या स्वीकार किया गया होना चाहिए।"

41. आइए आदेश XIV नियम 1(1) के प्रावधानों को देखें, जो नीचे दिया गया है:

> "1. *वाद-विषय तय करना:* (1) वाद-विषय तब उत्पन्न होते हैं जब तथ्य या कानून की किसी महत्वपूर्ण प्रस्थापना को एक पक्ष द्वारा स्वीकार और दूसरे पक्ष द्वारा अस्वीकार किया जाता है।"

42. ऊपर दिए गए दोनों प्रावधानों के बीच तुलना करने पर, मैं दोनों के बीच एक वैचारिक निकटता देखता हूँ। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जब न्यायालय द्वारा किसी मामले में कोई वाद-विषय तय किया गया हो और उसी वाद-विषय पर कोई निष्कर्ष निकाला गया हो, तो उक्त संहिता की धारा 11 के स्पष्टीकरण III को देखते हुए, वह निष्कर्ष ऐसा है जो समान पक्षों के बीच पूर्ववर्ती वाद में प्रत्यक्षतः और सारतः विवादग्रस्त रहा है।

43. माननीय न्यायमूर्ति काटजू ने अपने इस निष्कर्ष के समर्थन में कि इस मामले में वे दो प्रश्न प्रत्यक्षतः और सारतः विवादग्रस्त नहीं हैं, इस न्यायालय के दो निर्णयों पर भरोसा

किया। पहला निर्णय जिस पर भरोसा किया गया है, वह *सज्जादानशीन सैयद मो. बी.ई. एद्र (डी) कानूनी प्रतिनिधियों द्वारा बनाम मूसा दादाभाई उमेर और अन्य - 2000 (3) एससीसी 350* के मामले में दिया गया था।

44. *सज्जादानशीन* (उपरोक्त) में विद्वान न्यायाधीशों ने किसी ऐसी बात के बीच अंतर पर विचार किया जो 'प्रत्यक्षतः और सारतः विवादग्रस्त' है और जो 'सांपार्श्विक और आनुषंगिक रूप से विवादग्रस्त' है। ऐसा करते हुए, विद्वान न्यायाधीशों ने मुल्ला की दीवानी प्रक्रिया संहिता और कई अन्य ग्रंथों पर भरोसा किया। *सज्जादानशीन* (उपरोक्त) की कंडिका 18 में, विद्वान न्यायाधीशों ने सिद्धांत का सारांश देते हुए कहा कि "एक मामला जिसके संबंध में पिछले वाद में राहत का दावा किया गया है" उसे आम तौर पर "प्रत्यक्षतः और सारतः विवादग्रस्त" मामला कहा जा सकता है, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि यदि मामला ऐसा है जिसके संबंध में कोई राहत नहीं मांगी गई है, तो वह प्रत्यक्षतः या सारतः विवादग्रस्त नहीं है। यह हो भी सकता है और नहीं भी।" (रिपोर्ट की कंडिका 18, पृष्ठ 359)।

45. इसलिए, यह स्पष्ट है कि मुल्ला ने कोई निश्चित राय नहीं दी है और यह स्पष्ट किया है कि ऐसे प्रश्न का उत्तर "प्रत्येक मामले के तथ्यों" पर निर्भर करता है। कसौटी यह पता लगाने की है कि क्या मुख्य प्रश्न पर निर्णय लेने के लिए उस वाद-विषय का तय किया जाना "आवश्यक" था और क्या उस पर निर्णय लिया गया था।

46. वर्तमान मामले के वाद-पत्र में, प्रतिवादी 1 से 6 ने न्यासियों के अपनी संपत्ति को स्थानांतरित करने के अधिकार को सीधे चुनौती दी, क्योंकि उन्होंने यह दावा किया है कि यह संपत्ति एक सार्वजनिक न्यास है और अधिनियम की धारा 26 के तहत मंजूरी के बिना इसे स्थानांतरित नहीं किया जा सकता है, और न्यासियों  द्वारा प्रतिवादी संख्या 7 से 9 के पक्ष में

किया गया हस्तांतरण शून्य है क्योंकि उनके पास कोई स्वामित्व नहीं है। वाद-पत्र में यह स्पष्ट मामला है।

47. इसलिए, जब तक इस पहलू पर और न्यासियों के स्वामित्व पर कोई निर्णय नहीं दिया जाता, तब तक आगे का निर्णय, यानी वाद को खारिज करने का निर्णय, नहीं लिया जा सकता। यह पट्टाधारकों के कब्जे में हस्तक्षेप करने से प्रतिवादी संख्या 7 से 9 को रोकने के आदेश के लिए निषेधाज्ञा का वाद हो सकता है, लेकिन फिर भी न्यासियों के स्वामित्व का प्रश्न प्रमुखता से उठाया गया था और इस आशय के अभिवचनों का उल्लेख ऊपर पहले ही किया जा चुका है।

48. एक कानूनी प्रतिज्ञाप्ति के रूप में, यह अच्छी तरह से स्थापित है कि कब्जे से संबंधित निषेधाज्ञा के वाद में भी स्वामित्व का प्रश्न उत्पन्न हो सकता है। इस संबंध में इस न्यायालय के निम्नलिखित मामलों के निर्णयों का संदर्भ लिया जा सकता है:

*1. सज्जादानशीन सैयद मो. बी.ई. एद्र (डी) कानूनी प्रतिनिधियों द्वारा बनाम मूसा दादाभाई उमेर और अन्य, (2000) 3 एससीसी 350।*

*2. अन्नाइमुथु थेवर (मृतक) कानूनी प्रतिनिधियों द्वारा बनाम अलगम्माल और अन्य - (2005) 6 एससीसी 202।*

*3. स्वामी आत्मानंद और अन्य बनाम श्री रामकृष्ण तपोवनम और अन्य, (2005) 10 एससीसी 51।*

*4. विलियम्स बनाम लुर्दुसामी और अन्य - (2008) 5 एससीसी 647।*

49. वर्तमान मामले में यह सच हो सकता है कि न्यासियों ने न्यायालय के समक्ष यह रुख अपनाया है कि पट्टाधारकों के कब्जे में पट्टे की अवधि के दौरान और कानून के अनुसार प्रक्रिया के अलावा कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि

न्यासियों के स्वामित्व का प्रश्न, जिसे उठाया गया और तय किया गया था, ऐसा मामला नहीं है जो प्रत्यक्षतः या सारतः विवादग्रस्त हो।

50. 1978 की ओ.एस. 5 को खारिज करने का निर्णय देने के लिए, न्यायालय के लिए इस निष्कर्ष पर पहुँचना बहुत महत्वपूर्ण था कि वाद में प्रतिवादी संख्या 7 से 9 ऐसे मकान मालिक थे जिन्होंने मंदिर के न्यासियों से उक्त संपत्ति को वैध रूप से खरीदा था, क्योंकि वाद-पत्र में यह आरोप लगाया गया था कि मंदिर के न्यासियों ने गैर-कानूनी रूप से संपत्ति को प्रतिवादी संख्या 7 से 9 को हस्तांतरित कर दिया है।

51. न्यासियों - जो यहाँ अपीलकर्ता हैं, मंदिर की संपत्ति को प्रतिवादी संख्या 7 से 9 के पक्ष में वैध रूप से केवल तभी हस्तांतरित कर सकते हैं जब उनके पास संपत्ति का स्वामित्व हो, और केवल तभी जब प्रतिवादी संख्या 7 से 9 ने संपत्ति का वैध स्वामित्व प्राप्त कर लिया हो, वे पट्टाधारकों यानी यहाँ प्रतिवादी संख्या 1 से 6 को बेदखल करने के लिए कदम उठा सकते हैं।

52. इसलिए, यह प्रश्न कि क्या अपीलकर्ताओं के पास संपत्ति का स्वामित्व था और वे प्रतिवादी संख्या 7 से 9 के पक्ष में संपत्ति का वैध हस्तांतरण कर सकते हैं, वाद को खारिज करने के अंतिम निर्णय से अटूट रूप से जुड़ा हुआ है।

53. इस न्यायालय द्वारा *विठ्ठल यशवंत जाथर बनाम शिकंदरखान मख्तुमखान सरदेसाई* - 1963 (2) एससीआर 285 के पृष्ठ 290 पर यह माना गया है:

> "... यह अच्छी तरह से स्थापित है कि यदि पक्षों के बीच विवादित किसी भी मामले में न्यायालय का अंतिम निर्णय उसके एक से अधिक बिंदुओं के निर्णयों पर आधारित है - जिनमें से प्रत्येक बिंदु अपने आप में अंतिम निर्णय के लिए पर्याप्त होगा - तो इन बिंदुओं में से प्रत्येक पर दिया गया निर्णय पक्षों के बीच प्राङ्न्याय के रूप में प्रभावी होता है।"

54. उक्त निर्णय पर इस न्यायालय द्वारा कमिशनर ऑफ एंडोमेंट्स एवं अन्य बनाम विट्ठल राव एवं अन्य (2005) 4 एससीसी 120 में आगे और भरोसा किया गया है।

55. *सज्जादानशीन* (उपरोक्त) में इस न्यायालय ने माना था कि कोई प्रश्न प्रत्यक्षतः और सारतः विवादग्रस्त है या नहीं, इसका निर्णय वाद-पत्र और लिखित बयानों की जांच के आधार पर किया जाना चाहिए।

56. इस कसौटी पर चलते हुए, मेरी यह राय है कि अपीलकर्ता के स्वामित्व का प्रश्न और न्यास की संपत्ति की प्रकृति प्रत्यक्षतः और सारतः विवादग्रस्त है। पट्टाधारकों - जो यहाँ प्रतिवादी संख्या 1 से 6 हैं, ने इन मुद्दों पर निष्कर्ष आमंत्रित किया था। ऐसा करने के बाद, वे केवल इसलिए इससे पीछे नहीं हट सकते क्योंकि निर्णय में निष्कर्ष उनके खिलाफ गया था, और विशेष रूप से तब जब उन्होंने ऐसे निष्कर्ष के खिलाफ कोई अपील दायर नहीं की थी। उक्त निष्कर्ष को केवल कानून द्वारा स्थापित स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही किसी सक्षम न्यायालय द्वारा उलटा जा सकता है।

57. इसलिए इस न्यायालय का *सज्जादानशीन* का निर्णय इस मामले में पट्टाधारकों - प्रतिवादी संख्या 1 से 6 के मामले का समर्थन नहीं करता है।

58. *तमिलनाडु वक्फ बोर्ड बनाम लराबशा दरगाह, पनरुती* - (2007) 13 एससीसी 416 के मामले में दिया गया निर्णय इस मामले के विवाद पर कोई प्रकाश नहीं डालता है। *तमिलनाडु वक्फ बोर्ड* (उपरोक्त) के मामले में रिपोर्ट की पृष्ठ 421 पर कंडिका 11 में यह माना गया है कि पिछली द्वितीय अपील में, उच्च न्यायालय के पास यह विचार करने का कोई अवसर नहीं था कि यह एक निजी वक्फ था या सार्वजनिक वक्फ था। इस वाद में वादी का दावा यह था कि वाद संपत्ति एक निजी संपत्ति थी न कि एक निजी वक्फ संपत्ति। इन दावों पर, उच्च न्यायालय ने द्वितीय अपील में अपना यह निष्कर्ष दिया कि वाद संपत्ति एक वक्फ संपत्ति थी और यह एक

निजी न्यास संपत्ति नहीं है। विद्वान न्यायाधीशों ने उक्त द्वितीय अपील में उच्च न्यायालय के निष्कर्ष के साथ अपनी सहमति व्यक्त की और माना कि बाद की कार्यवाही में इस मुद्दे का कोई असर नहीं पड़ता है।

59. उक्त निर्णय में प्राङ्न्याय के सिद्धांत के बारे में कोई चर्चा नहीं की गई है। उक्त निर्णय का हेड नोट 'बी' प्राङ्न्याय पर दीवानी प्रक्रिया संहिता की धारा 11 का संदर्भ देता है, लेकिन उक्त निर्णय में प्राङ्न्याय की अवधारणा पर कोई चर्चा नहीं है। इसलिए, *तमिलनाडु वक्फ बोर्ड* (उपरोक्त) में कानून के किसी बिंदु पर निर्णय नहीं लिया गया था। वह उस मामले के तथ्यों पर आधारित एक निर्णय था। इसलिए, इस मामले के विवाद का फैसला करने के लिए उक्त निर्णय की शायद ही कोई प्रासंगिकता है।

60. इसलिए संहिता की धारा 11 के तहत प्राङ्न्याय का वर्जन आकर्षित होता है।

61. प्राङ्न्याय सार्वभौमिक अनुप्रयोग का एक प्राचीन सिद्धांत है और न्यायशास्त्र की प्रत्येक सभ्य प्रणाली में व्याप्त है। यह सिद्धांत सभी न्यायिक प्रणालियों के बुनियादी सिद्धांतों को समाहित करता है जो यह प्रावधान करते हैं कि एक पूर्ववर्ती न्यायनिर्णयन समान पक्षों के बीच उसी विषय-वस्तु पर अंतिम होता है। प्राङ्न्याय के सिद्धांत एक ऐसे ज्ञान को दर्शाते हैं जो सर्वकालिक है। [देखें शिवपर्शन सिंह और अन्य बनाम रामनंदन प्रसाद नारायण सिंह और अन्य, 43 आई.ए. 91, पृष्ठ 98]। इस निर्णय में प्रिवी काउंसिल ने कात्यायन के पुराने हिंदू पाठ से प्राङ्न्याय के सिद्धांत का पता लगाया। प्राङ्न्याय को ग्रीक प्रथा और रोमन न्यायविदों द्वारा भी प्रतिपादित किया गया था। पीटर बार्नेट के ग्रंथ 'रेस ज्यूडिकाटा, एस्टॉपेल, एंड फॉरेन जजमेंट्स' ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस का संदर्भ लिया जा सकता है। पृष्ठ 8 पर फुटनोट 13 में, विद्वान लेखक ने डाइजेस्ट बुक 50 अध्याय 17 का संदर्भ दिया है, जो इन सूत्रों को उद्धृत करता है: एक निर्णीत मामले को सत्य के रूप में स्वीकार किया जाता है; जस्टिनियन, इंस्टीट्यूट्स IV 13.5:

यदि कोई प्रतिवादी जानबूझकर या लापरवाही से, एक अपवाद द्वारा प्राङ्न्याय का प्रश्न उठाने से चूक जाता है, तो ऐसा कोई प्रश्न प्रस्तुत नहीं किया जाएगा, जबकि, यदि ऐसा प्रश्न उचित रूप से उठाया जाता है, तो इस पर विचार किया जाना चाहिए कि क्या उस मुद्दे को सत्य के रूप में स्वीकार कर प्राङ्न्याय बना दिया गया है।]।

(जोर दिया गया है)

62. इंग्लिश कॉमन लॉ, जो रोमन कानून से प्रभावित है, भी इसी अवधारणा को साझा करता है और *नेल्सन बनाम काउच* - (1863) 15 सीबी (एनएस) 99, पृष्ठ 108 पर जस्टिस विल्स द्वारा यह माना गया है कि प्राङ्न्याय पूरी तरह से दीवानी कानून के नियम के अनुकूल है।

63. पॉल ए. मैकडरमोट ने प्राङ्न्याय और दोहरे संकट पर अपने प्रसिद्ध ग्रंथ में प्राङ्न्याय की अवधारणा का जिक्र करते हुए माना:

> "ऐसा विचार न केवल कॉमन लॉ का एक मौलिक सिद्धांत है, बल्कि यह रोमन कानून, हिंदू कानून, अफ्रीकी जनजातीय कानून, मूल अमेरिकी भारतीय कानून, कैनन कानून और कई आधुनिक नागरिक संहिताओं में भी पाया जाता है। इस तरह के नियम की आवश्यकता की इस प्रकार की सार्वभौमिक स्वीकृति ने एक अंग्रेजी न्यायाधीश को निम्नलिखित शब्दों में इसकी प्रशंसा करने के लिए प्रेरित किया:
>
> > "प्राङ्न्याय का नियम, प्राचीन मिसाल पर आधारित होने के साथ-साथ, एक ऐसे ज्ञान द्वारा निर्देशित था जो सर्वकालिक था।"

64. कोक के शब्दों में, प्राङ्न्याय "अभिलेख की अनुल्लंघनीय पवित्रता" का प्रतीक है जो "इतनी उच्च और निर्णायक प्रकृति का था कि इसमें किसी भी प्रकार के विरोधाभास की अनुमति नहीं थी"। यह कहा गया है कि जिस तरह प्रकृति शून्यता से घृणा करती है, उसी तरह "कॉमन

लॉ... अनंतता से घृणा करता है"। [देखें पॉल ए. मैकडरमोट का पृष्ठ 19 - रेस ज्यूडिकाटा एंड डबल जियोपार्डी]।

65. इंग्लैंड में एसेस टू जस्टिस पर हाल ही में प्रकाशित वूल्फ रिपोर्ट' में, इस सिद्धांत के महत्व को रेखांकित किया गया है, विशेष रूप से इस सिद्धांत में सार्वजनिक हित की सामग्री, यानी मुकदमेबाजी में अंतिमता को ध्यान में रखते हुए।

66. इस प्रकार, प्राङ्न्याय का सिद्धांत तीन सिद्धांतों पर आधारित है जो न्यायशास्त्र के किसी भी सभ्य संस्करण में अटल हैं। वे हैं:

1. किसी भी व्यक्ति को एक ही कारण के लिए दो बार परेशान नहीं किया जाना चाहिए;
2. यह राज्य के हित में है कि मुकदमेबाजी का अंत होना चाहिए; और
3. एक न्यायिक निर्णय को सही के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए, यदि मैं जोड़ सकूं, तो किसी चुनौती के अभाव में।

(देखें: दीवानी प्रक्रिया संहिता खंड I, न्यायमूर्ति सी.के. ठक्कर, पृष्ठ 119)

67. कॉर्पस ज्यूरिस (खंड 34 पृष्ठ 743) में इस सिद्धांत के महत्व को समझाते हुए, निम्नलिखित सिद्धांत निर्धारित किए गए हैं:

> "प्राङ्न्याय सार्वभौमिक कानून का एक नियम है जो प्रत्येक सुव्यवस्थित न्यायशास्त्र की प्रणाली में व्याप्त है, और इसे दो आधारों पर रखा गया है, जो कॉमन लॉ के विभिन्न सूत्रों में सन्निहित हैं; एक, सार्वजनिक नीति और आवश्यकता, जो इसे राज्य के हित में बनाती है कि मुकदमेबाजी का अंत होना चाहिए; दूसरा, व्यक्ति के लिए कष्ट कि उसे एक ही कारण के लिए दो बार परेशान किया जाए।"

68. इन बहुत से सिद्धांतों को इस न्यायालय की एक संविधान पीठ द्वारा दारयू और अन्य बनाम उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य - एआईआर 1961 एससी 1457 (1462) में स्वीकार किया गया है।

69. *दारयू* (उपरोक्त) के मामले में यह भी माना गया है कि उक्त संहिता की धारा 11 प्राङ्न्याय के उक्त सिद्धांत के संबंध में संपूर्ण नहीं है। और इस बात की ओर बहुत समय पहले *हुक बनाम एडमिनिस्ट्रेटर जनरल ऑफ बंगाल और अन्य* - 1920-21 (48) आई.ए. 187 के रिपोर्ट के पृष्ठ 194 पर ध्यान आकर्षित किया गया था।

70. इसलिए, प्राङ्न्याय के सिद्धांत के महत्व पर जितना भी बल दिया जाए, वह कम ही है।

71. यह प्रश्न कि समान पक्षकारों के बीच पिछले वाद में किसी सक्षम क्षेत्राधिकार वाले न्यायालय द्वारा निकाला गया निष्कर्ष प्राङ्न्याय के रूप में प्रभावी होना चाहिए या नहीं, उन कारणों पर निर्भर नहीं करता है जिन पर उक्त निष्कर्ष आधारित है। इस संबंध में मैं कलकत्ता उच्च न्यायालय की पूर्ण पीठ के निर्णय *तारिणी चरण बनाम केदार नाथ* - एआईआर 1928 कलकत्ता 777 में मुख्य न्यायाधीश रैंकिन की टिप्पणियों का संदर्भ ले सकता हूँ। मुख्य न्यायाधीश ने इस प्रकार माना:

> "... यह प्रश्न कि निर्णय सही है या त्रुटिपूर्ण, इस प्रश्न पर कोई असर नहीं डालता है कि वह प्राङ्न्याय के रूप में प्रभावी होता है या नहीं।"

72. विद्वान मुख्य न्यायाधीश ने आगे यह भी माना:

> "... ऐसी अव्यवस्थित प्रक्रिया के परिणामस्वरूप यह कहना कि पिछला निर्णय कानून के किसी बिंदु पर गलत था और इसलिए इसकी उपेक्षा की जा सकती है, तर्क का एक असमर्थनीय रूप है।"

73. यदि निष्कर्ष पर पहुँचने वाले न्यायालय के पास ऐसा करने का क्षेत्राधिकार था, तो अपील के अभाव में, ऐसे निष्कर्ष को केवल इस आधार पर कमजोर नहीं किया जा सकता कि उसका तर्क कमजोर है या वह निष्कर्ष अनावश्यक है, भले ही वह एक ऐसे प्रश्न पर था जो पक्षकारों के बीच प्रत्यक्षतः और सारतः विवादग्रस्त था।

74. कानून के तहत की जाने वाली कानूनी कार्रवाई की तुलना शतरंज के खेल से नहीं की जा सकती जहाँ खिलाड़ी अपनी सुविधा के अनुसार अपने रुख को बदल और चुन सकते हैं। पक्षकारों के बीच अभिवचनों के आधार पर न्यायालय द्वारा निकाले गए निष्कर्ष के साथ कुछ पवित्रता जुड़ी होनी चाहिए और यदि ऐसा निष्कर्ष किसी पक्षकार के अनुरोध पर आमंत्रित किया गया था, तो उस पक्षकार को ऐसे निष्कर्ष से बाध्य माना जाना चाहिए, जब तक कि व्यथित पक्षकार द्वारा ऐसे निष्कर्ष के खिलाफ कोई अपील न की गई हो।

75. *प्रीमियर टायर्स लिमिटेड बनाम केरल स्टेट रोड ट्रांसपोर्ट कॉर्पोरेशन* - 1993 पूरक (2) एससीसी 146 में तीन न्यायाधीशों की पीठ के निर्णय में, इस न्यायालय ने माना कि जहाँ दो जुड़े हुए वादों की सुनवाई एक साथ की गई थी और एक वाद में निष्कर्ष पर पहुँचा जा चुका है, तो अपील के अभाव में ऐसा निष्कर्ष अंतिम हो जाता है। रिपोर्ट की कंडिका 4 में, विद्वान न्यायाधीशों ने निम्नलिखित प्रतिज्ञाप्ति निर्धारित की है, जिसे मैं उद्धृत करता हूँ:

> "...प्रश्न यह है कि तब क्या होता है जब कोई अपील दायर नहीं की जाती है, जैसा कि इस मामले में जुड़े हुए वाद की डिक्री के संबंध में है। किसी निर्णय या डिक्री के खिलाफ अपील दायर न करने का परिणाम यह होता है कि वह अंतिम हो जाता है। इस अंतिमता को केवल कानून के अनुसार ही हटाया जा सकता है। वही परिणाम तब भी होते हैं जब किसी जुड़े हुए वाद में निर्णय या डिक्री के खिलाफ अपील नहीं की जाती है।"

76. विद्वान न्यायाधीशों ने उक्त निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए *बद्री नारायण सिंह बनाम कामदेव प्रसाद सिंह और अन्य* - एआईआर 1962 एससी 338 के मामले में एक संविधान पीठ द्वारा निर्धारित सिद्धांतों पर भरोसा किया।

77. वे सिद्धांत वर्तमान मामले में पूरी तरह लागू होते हैं।

78. इसलिए, मेरी यह राय है कि न तो मद्रास उच्च न्यायालय की एकल पीठ और न ही उसी उच्च न्यायालय की खंडपीठ ने यह मानने में सही दृष्टिकोण अपनाया कि 1978 की ओ.एस. 5 या 1978 की ओ.एस. 7 में दिए गए निष्कर्ष को उपरोक्त निष्कर्ष के खिलाफ किसी अपील के अभाव में संशोधित किया जा सकता है।

79. विद्वान विचारण न्यायाधीश द्वारा निकाला गया निम्नलिखित निष्कर्ष, जो नीचे दिया गया है, कायम रहता है और पक्षकारों को बाध्य करता है:

> "इसलिए वाद संपत्ति अधिनियम द्वारा शासित एक सार्वजनिक मंदिर नहीं है और चूंकि संपत्ति सेथुरामा चेट्टियार की निजी संपत्ति पाई गई है, इसलिए हिंदू धार्मिक संस्थान अधिनियम की धारा 26 के तहत मंजूरी आवश्यक नहीं है। वाद संपत्ति सेथुरामा चेट्टियार की व्यक्तिगत संपत्ति होने और इसे प्रतिवादी संख्या 7 से 9 को बेचे जाने के कारण, उत्तरवर्ती वाद संपत्ति के पूर्ण स्वामी बन गए हैं और ओ.एस. 5/78 के वादीगण वर्तमान मकान मालिक के स्वामित्व को चुनौती देने से विवर्जित हैं और वे किरायेदारी को स्वीकार करने के लिए बाध्य हैं। उन्हें *मकान मालिक या उनके हक-उत्तराधिकारियों के स्वामित्व पर सवाल उठाने का कोई अधिकार नहीं है।"*
>
> (जोर दिया गया है)

80. उपरोक्त निष्कर्ष को उस तरीके से कमजोर या हल्का नहीं किया जा सकता जिस तरीके से उच्च न्यायालय द्वारा किया गया है।

81. इसलिए, अपील स्वीकार की जाती है। लागत के संबंध में कोई आदेश नहीं होगा।

**आदेश**

विस्तृत अलग निर्णयों के संदर्भ में राय की भिन्नता को देखते हुए, हम निर्देश देते हैं कि इस मामले को एक अन्य पीठ के समक्ष रखा जाए, जिसे माननीय मुख्य न्यायाधीश द्वारा नामित किया जाएगा।

एन.जे. मामला बड़ी पीठ को संदर्भित किया गया।

**खंडन (डिस्क्लेमर)- स्थानीय भाषा में निर्णय के अनुवाद का आशय, पक्षकारों को इसे अपनी भाषा में समझने के उपयोग तक ही सीमित है और अन्य प्रयोजनार्थ इसका उपयोग नही किया जा सकता। समस्त व्यवहारिक, कार्यालयी, न्यायिक एवं सरकारी प्रयोजनार्थ, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण ही प्रमाणिक होगा साथ ही निष्पादन तथा कार्यान्वयन के प्रयोजनार्थ अनुमान्य होगा।**